भारतीय भाषाओं में समाज चिंतन

27 फरवरी, 2013 को सीएसडीएस में होने वाली परिचर्चा के लिए बीजपत्र

भारतीय भाषाओं की दुनिया आज एक नयी उड़ान भरने को तैयार है. साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में तो ये भाषाएँ एक ज़माने से फल-फूल रही ही हैं, मगर आज समाज-विज्ञान और मानविकी आदि के क्षेत्र में भी नयी गुंजाइशें दिखाई देने लगी हैं. कम से कम हिंदी के तजरुबे के बूते पर तो यह बात कही ही जा सकती है. अगर पिछले बीस बरस के हिंदी प्रकाशन पर नज़र डालें तो पाएँगे कि इधर समाज-चिंतन से जुड़े हुए विषयों पर देश-विदेश में अंग्रेज़ी व अन्य भाषाओं में हो रहा शोध अच्छी खासी मात्रा में छप कर सामने आ रहा है. ऐसा नहीं कि पहले ऐसा नहीं होता था, मगर अब एक गुणात्मक फ़र्क़ नज़र आता है. साहित्य आदि के क्षेत्र में तो अंग्रेज़ी प्रकाशन का बाज़ार भी भारतीय भाषाओं का साहित्य अंग्रेज़ी में परोसने की ज़रूरत महसूस कर रहा है और बड़े बड़े प्रकाशक इस होड़ में बाज़ार में उतर रहे हैं. हिंदी में हो रहे चिंतन को भी अब देशी और विदेश स्थित समाज-विज्ञानियों को गंभीरता से लेना पड़ रहा है. ज़ाहिर है कि भाषायी जगत में चल रहा बौद्धिक कर्म आज एक नए मोड़ पर आ चुका है और उसकी अकादमिक माँग बढ़ रही है.

हमें आज भारतीय भाषाओं में समाज-चिंतन पर बात करने की ज़रूरत मूलत: इसलिए महसूस हो रही है क्योंकि हम समझते हैं कि आज तक जिस सवाल को लगातार मुल्तवी किया जाता रहा वह आज यकायक एजेंडे पर आ गया है. यह सवाल अलग-अलग तरह से उठ कर भारतीय भाषाओं में काम करने वाले बुद्धिजीवियों को सालता रहा है. कभी यह सवाल 'हिंदी प्रदेश के वैचारिक संकट' पर चर्चा के रूप में सामने आता है तो कभी इस विलाप के रूप में कि हिंदी समेत तमाम भारतीय भाषाएँ जज़्बात का इज़हार करने के लिए तो ठीक हैं पर गंभीर विचार इनमें संभव नहीं है. ज़ाहिर है कि हम इस बात से सहमत नहीं हैं कि इन भाषाओं में वैचारिक विमर्श संभव नहीं, मगर पिछले कई दशकों में इस बात को ग़लत साबित करने के लिए ठोस काम करने के बजाय नारे ज़्यादा लगाये गए हैं. मगर आज हालात बदल रहे हैं और भाषायी दुनिया का समाज-चिंतन व समाज-विज्ञान से रिश्ता नए सिरे से परिभाषित किये जाने की माँग करने के साथ-साथ उस ज़मीनी हस्तक्षेप की माँग भी करता है.

इक्कीसवीं सदी के शुरुआती सालों में बहुतों ने इन भाषाओं के मर्सिये लिखने शुरू कर दिए थे, क्योंकि उन्हें गुमान था कि भूमंडलीकरण के दौर में अब सारी दुनिया में अंग्रेज़ी के बोलाबाले के तहत एक ही भाषा और संस्कृति बनने जा रही है.

लिहाज़ा, इन लोगों का मानना था कि हमें भी भारतीय भाषाओं का मोह छोड़ कर इस नयी सूरत को गले लगा लेना चाहिए. यह बात सुनने में अजीब लग सकती है, मगर इसमें कोई शक नहीं कि ऐसा मानने वालों में बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा तो था ही, ख़ुद सरकारी हलक़ों पर भी ऐसा सोच हावी था. आख़िरकार ऐसी सरकारों से उम्मीद भी क्या की जा सकती है जिन्होंने पिछले छ: दशकों में हमारे विश्वविद्यालयों में इन भाषाओं में पढ़ाने के काम पर एक लम्हा भी ख़र्च करना गवारा न किया— शोध की बात को तो फ़िलहाल छोड़ ही दें. शायद यह कहना ग़लत न होगा कि भूमंडलीकरण के इस दौर में सबसे ज्यादा शर्मनाक भूमिका हमारी सरकारों की ही रही है जिन्होंने यह तय ही कर लिया है कि नए वैश्विक 'ज्ञान-समाज' में हमारी भूमिका महज़ श्रमशक्ति मुहैया कराने की ही होगी. उच्च शिक्षा में लाये जा रहे तमाम बदलाव तो इसी तरफ़ इशारा करते हैं. आज भी सारा ज़ोर हमारी उच्च शिक्षा को अमेरिकी व्यवस्था के अनुरूप ढालने की तरफ़ ज्यादा दिखाई देता है, अपनी सलाहियतों को मज़बूत करने की तरफ़ नहीं. इसका असर भाषा को लेकर सिरे से नदारद सोच में भी देखने को मिलता है.

इस संदर्भ में हमने महसूस किया कि इस दिशा में अब सरकार से आस लगाये बैठे रहने के बजाये हमें ख़ुद ही अपने स्तर पर पहल करनी चाहिए, भले ही वह एक छोटी सी पहल ही क्यों न हो. एक चीनी कहावत है कि हज़ारों मील लंबे सफर के शुरुआत भी एक क़दम से ही होती है— और हम भी इस बात से बाख़बर हैं कि हम जिस सफ़र पर निकल रहे हैं वह भी बहुत लंबा और मुश्किल सफ़र है.

यह बात तो सभी जानते हैं कि जिसे हम 'समाज-विज्ञान' कहते हैं उसकी हालत इन भाषाओं में बहुत अच्छी नहीं है. इस स्तर पर लंबे अरसे से संकट सा छाया रहा है. हम में से जो लोग विश्वविद्यालयों में पढ़ाने और शोध-निर्देशन के काम से जुड़े हैं, अच्छी तरह जानते हैं कि हालात कितने ख़राब रहे हैं. ज़यादातर विषयों में तो पढ़ने-लिखने की सामग्री का अभाव इस क़दर रहा है कि जिन छात्रों की एकमात्र भाषा अपनी मातृभाषा है, उनके लिए उच्च शिक्षा की दहलीज़ पार कर पाना भी एक चुनौती बन जाता है. हिंदी-भाषी छात्रों की हालत दिल्ली विश्वविद्यालय में तो कुछ ऐसी रही ही है. अन्य विश्वविद्यालयों में भी स्थिति बहुत अलग नहीं है. ऐसी हालत में जिन शिक्षकों को भारतीय भाषाओं के छात्रों की फ़िक्र रहती भी है, वे भी कुछ ठोस कर पाने में नाकाम ही रहते हैं.

लिहाज़ा, उसी ज़माने में जब भारतीय भाषाओं के लिए मर्सिये लिखे जा रहे थे, विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) में हम कुछ लोगों ने यह महसूस किया कि सच्चाई शायद इससे बिलकुल जुदा है. हमें लगा था कि दरअसल

आज भाषायी दुनिया में, खासकर हिंदी की दुनिया में, एक नया उछाल आ रहा है. उस वक्त तक तमाम तरह के नए मीडिया के विस्फोट के चलते हिंदी पढ़ने और उसमें लिखने वालों की एक पूरी नयी जमात अब सामने आ चुकी थी जो नए सिरे से खुल रही सम्भावनाओं की तरफ़ इशारा कर रही थी. उसी ज़माने में अध्ययन पीठ के भारतीय भाषा कार्यक्रम और सराय कार्यक्रम ने इस समझ के मद्देनज़र कई नए हस्तक्षेप किये. इनके तहत समाज-विज्ञान और दर्शन आदि की कई किताबों के सम्पादन, तर्जुमे और *दीवान-ए-सराय* के प्रकाशन के अलावा सॉफ्टवेयर निर्माण और हिंदी कम्प्यूटिंग की भाषा के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किये गए. ख़ुद हमारी संस्था में पिछले दशकों में हुए शोध कार्य को तर्जुमा कर के हिंदी में शाया किया गया. कई जिल्दें तो हाथों हाथ बिक भी गयीं, जिसने यह साबित किया कि हमारा अंदाज़ा समाज-विज्ञान के क्षेत्र में भी ग़लत न था.

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि उसी समय दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में हिंदी पढ़ाने के काम के लिए कुछ शिक्षकों ने पहल की और साथ ही उपयुक्त पाठ्य सामग्री तैयार करने के सवाल को भी गंभीरता से लेना शुरू किया था. इसके चलते एक साझा काम की नींव भी पड़ी. उसी दौरान उस विभाग के कई शोधार्थी हिंदी में अपनी थीसिस लिखने का जोखिम उठा पाए. उन्हीं में से कई आज भी हमारे इस सफ़र के हमसफ़र बने हुए हैं. हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा का काम लंबे समय से चला तो आ रहा है मगर क़ानून, तकनीकी, और चिकित्सा विज्ञान आदि क्षेत्रों में भी जब-तब शोधार्थियों ने हिंदी में लिखने पढ़ने की मुहिम चलायी है.

दस सालों के अपने तजरुबे के आधार पर हम अब यह हिम्मत भी जुटा पा रहे हैं कि हम अब भाषायी जगत में समाज-विज्ञान के सवाल को और थोडा बड़े फलक पर उठायें.

पिछले तक़रीबन एक साल में हमारे सहकर्मी नवीन चंद्र द्वारा भारतीय भाषा कार्यक्रम के लिए किये गए प्राथमिक अनुसंधान से भी यह बात साफ़ हो जाती है कि आज हिंदी के विचार-जगत में काफ़ी हलचल है. इस अनुसंधान के तहत अब तक 40 पत्रिकाओं के उपलब्ध अंक इकठ्ठा किये गए हैं. कुल मिलाकर 550 नए व पुराने अंकों की लगभग 30 हज़ार पन्नों की इस सामग्री में छपे साहित्येतर लेखन के विश्लेषण से पता चलता है कि दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, वाम-विमर्श, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन, हिंदुत्व, विकास, पर्यावरण व विस्थापन और इतिहास संबंधी विषयों पर लेखन वगैरह तो अच्छी ख़ासी मात्रा में मिलता ही है, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता, संस्कृति व भारतीय दर्शन समेत अन्य सैद्धांतिक विषयों

पर भी बहसें देखने को मिलती हैं. इन सब के अलावा अंग्रेज़ी और अन्य भारतीय भाषाओं से अनुवाद भी लगातार छपता रहा है. यहाँ तक कि मूलत: साहित्यिक पत्रिकाओं में भी सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर ज़ोरदार बहसें हुई हैं.

कुल मिलकर ऊपर की चर्चा का लब्बेलुवाब यह है कि अब हम अपने काम में भी अनुवाद से आगे देखें. इसका मतलब यह भी है कि हम हिंदी में मौलिक काम को तरजीह दें. मौलिकता से हमारी मुराद 'देशज ज्ञान' से नहीं है बल्कि हिंदी में मूल लेखन करने से है. हमारा यक़ीन है कि इससे ज्ञान के कई दरवाज़े खुलेंगे, मगर हम इस बात से भी बाख़बर हैं कि वे दरवाज़े हमें किसी सुदूर अतीत के अंधे कुएँ में नहीं ले जाएँगे बल्कि ख़ुद समाज-विज्ञान की अवधारणाओं को नए सिरे से परखने और उनसे जिरह करते रहने का रास्ता दिखायेंगे.

भाषायी जगत और समाज-विज्ञान के बीच का रिश्ता बहुत पेचीदा है. समाज विज्ञान का जन्म न सिर्फ यूरोप में— या आम तौर पर पश्चिम में— हुआ, बल्कि एक खास ऐतिहासिक और बौद्धिक माहौल में हुआ जिसका पसमंज़र 16वीं और 17वीं सदियों की वैज्ञानिक क्रांति था. विज्ञान के उस विजय अभियान का असर उस वक़्त के समाज-चिंतन पर भी प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़म) के रूप में जम कर पड़ा। इसने प्राकृतिक विज्ञानों के तर्ज़ पर समाज का विज्ञान तैयार करने का जो आग्रह पैदा किया उसने समाज-विज्ञान और समाज-चिंतन के अन्य रूपों के बीच एक दीवार खड़ी कर दी. समाज-विज्ञान और मानविकी का जो फ़र्क़ हम आज भी देखते हैं वह भी उसी सोच का नतीजा है. यह बात यहाँ इसलिए कहना ज़रूरी है क्योंकि हमारे जैसे समाजों में समाज-चिंतन कभी इस तरह अलग अलग खेमों में बंटा नहीं रहा. समाज-विज्ञान का आग्रह विश्वविद्यालयों तक ही सीमित रहा, मगर उस पर भी 'विज्ञान' का असर कम ही दिखाई देता है.

लिहाज़ा एक स्तर पर हमारा सवाल यह नहीं है कि हमारे यहाँ समाज-विज्ञान क्यों नहीं है? बल्कि हमारी कोशिश यह पता लगाने की है कि हमारे यहाँ समाज-चिंतन के क्या रूप देखने को मिलते हैं— समाज के बारे में कौन सी विधाओं में और किन तरीक़ों सोचा गया है, या सोचा जाता रहा है?

यक़ीनन, इसके मायने यह नहीं हैं कि हम समाज-विज्ञान को सिरे से ख़ारिज कर दें. हमारे शोधार्थियों के लिए समाज-विज्ञान और उसके साज़-सरंजाम पर अपनी पकड़ मज़बूत करना भी उतना ही ज़रूरी है जितना उससे जिरह करते रहना. यह इसलिए भी ज़रूरी है कि हमारे यहाँ अक्सर 'स्वयंभू विचारक' इफ़रात में पाए जाते हैं जिन्हें कभी भी किसी भी क़िस्म के शोध और चिंतन का हवाला देने की ज़रूरत भूले से भी महसूस नहीं होती. ज़ाहिर है कि हमें अपनी शोध की सलाहियतें मज़बूत और धारदार बनाने की मशक्क़त करनी होगी.

हमारी इस कोशिश के दो पहलू हैं. पहली तो यह कि भाषायी दुनिया में चल रहे बौद्धिक-कर्म के विभिन्न रूपों की बारीक़ी से शिनाख़्त की जाये और उसके ख़ास अंदाज़ व सरोकारों को समाज-चिंतन की अपने सैद्धांतिकी का हिस्सा बनाया जाये. दूसरी तरफ़ यह भी कि जिसे हम समाज-विज्ञान कहते हैं— अपने तमाम अनुशासनों समेत— उस के तौर तरीक़ों पर भी हमें इख़्तियार हासिल हो, हालाँकि हमारा मानना है कि जैसे-जैसे समाज-विज्ञान अन्य भाषाओं में मौलिक रूप से शोध होने लगेगा, वैसे-वैसे समाज विज्ञान की शक्ल भी बदलेगी, उसमें नए नए तजरुबों, सरोकारों और नज़रियों का समावेश भी होगा.

इस अर्थ में देखें तो ज्ञान-कर्म के लोकतंत्रीकरण का मसला महज़ संख्याओं का मसला नहीं है— ज्ञानकर्म के विस्तार के साथ उसकी ज्ञानमीमांसा का सवाल सीधे-सीधे जुड़ता है. और जब इसका विस्तार होता है तो वह लोकतंत्रीकरण भाषा की उस दीवार को भी तोड़ने की माँग करता है जो आज अंग्रेज़ी के वर्चस्व की वजह से भाषाई दुनिया के सामने खड़ी है.

भाषाओं की दुनिया एक अलग दुनिया है और अक्सर सिर्फ़ अनुवाद पर आधारित हमारे शास्त्र में एक बिलकुल अलग दुनिया के तजरुबे पर बनी थियरी क्या गुल खिला सकती है इसकी एक बानगी हमें 'सामंत' और 'सामंतवाद' के अद्भुत सफ़र में देखने को मिल सकती है. आम तौर पर हम सामंत/ सामंतवाद को यूरोप के 'फ्यूडलिज़म' का पर्याय मानते हैं. अब यह इस्तेमाल इतना रूढ़ हो चला है कि हम यह भूल ही चुके हैं कि दरअसल इस शब्द के मायने क्या हैं या हुआ करते थे. 'सामंत' के अर्थ, बकौल वामन शिवराम आप्टे रचित *संस्कृत-हिंदी शब्दकोश*, इस प्रकार हैं :

> **सामंत** : १. सीमावर्ती, सरहदी, पड़ोसी. २. विश्वव्यापक, सामान्तः १. पड़ोसी २. पड़ोस का राजा ३. मांडलिक, कर देने वाला राजा ४. नेता, नायक.
>
> जिस मूल से यह शब्द आता है – अर्थात 'समंत' – उसके अर्थ भी देख लें.
>
> **समंत** : १. हर दिशा में मौजूद, विश्वव्यापी २. पूर्ण, समस्त, समन्तः – सीमा, हद, मर्यादा

लगभग यही अर्थ बनारस से प्रकाशित *बृहत हिंदी कोश* में मिलेंगे. ज़ाहिर है कि यह शब्द मात्र एक शब्द नहीं है— इसके साथ जुड़ा है एक पूरा का पूरा विचार-जगत जिसमें ऊपर दिए गए तमाम अर्थ एक दूसरे के नज़दीक घूमते हैं और जिसमें एक क़िस्म की राज्य-व्यवस्था का भी सुराग़ मिलता है, क्योंकि एक अर्थ तो एक मातहत राजा का है जो बड़े राजा को कर देता है. मगर ज़मीन और उससे जुड़ी ग़ुलामी का अर्थ यहाँ कहीं नहीं है— जो मार्क्सवाद के ज़रिये 'फ्यूडलिज़म' के साथ जुड़ गया था और जिसके अनुवाद के रूप में ही 'सामंत' और 'सामंतवाद' को इस्तेमाल मे लाया गया. फ्यूडलिज़्म के

अर्थ पश्चिमी समाज-चिंतन में बहुतेरे हैं और अलग-अलग सिद्धांतकारों और इतिहासकारों ने यूरोप के इतिहास के एक लंबे और जटिल दौर की विभिन्न बहुआयामी व्यवस्थाओं के लिए इस पद का इस्तेमाल किया है. मगर हम यहाँ इसके सीमित मार्क्सवादी अर्थों तक ही अपनी बात को महदूद रखेंगे. ज़ाहिर है कि यह शब्द एक बिलकुल अलग क़िस्म की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की तरफ़ इशारा करता है जो इस तर्जुमे के चलते और समाज-विज्ञान के वर्चस्व के चलते अब हमारी याददाश्त से भी लुप्त हो चुका है. अब हम अपने समाज और उसके इतिहास को इसी पश्चिमी सिद्धांतीकरण के चश्मे से देखने के अभिशप्त हो चुके हैं.

फिर इस में हैरत की क्या बात है कि इस शब्द के सफ़र में सबसे दिलचस्प मोड़ तो तब आता है जब इतिहासकारों में यह बहस शुरू होती है कि क्या हिंदुस्तान में कभी 'फ्यूडलिज़म' था? यह बहस भी मार्क्सवादियों के बीच की बहस रही है, और इसका ताल्लुक ज़मीन आदि के निजी मालिकाने वाली समाज व्यवस्था से रहा है. अब इस बहस का हिंदी में तरजुमा किस रूप में होता या हो सकता है : 'क्या हिंदुस्तान में सामंतवाद था?' पूछना तो हम चाहते हैं कि यहाँ मार्क्स द्वारा परिभाषित 'फ्यूडलिज़म' था या नहीं, मगर पूछ कुछ और बैठते हैं.

कुछ ऐसा ही हुआ है 'सेकुलरिज़म' शब्द के साथ— एक उलट यात्रा में. पहले हमने ख़ुद को सेकुलर क़रार दिया। चूँकि हमारे हालात यूरोप से बिलकुल जुदा थे इसलिए हमारे पास इस नए मत के लिए कोई शब्द नहीं था. इसके मायने यह तो कतई नहीं हो सकते कि इस पद के हमारी ज़िंदगी में आने से पहले हम सब एक दूसरे के साथ खून-ख़राबा कर रहे थे. मगर अपने समाज को देखने का चश्मा अब बदल चुका था और समाज-विज्ञान व राजनीतिक सिद्धांत ने हमें समझा दिया था कि तरक़्क़ीपसंद होने के लिए हमारा सेकुलर होना ज़रूरी है. 'धर्म-निरपेक्षता' जैसे पद जो उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन के दौरान वजूद में आये, हमारे सेकुलर मानस को एक क़िस्म की मिलावट की तरह दिखने लगे. इसका नतीजा यह हुआ कि हम अपने तजरुबे को कभी उसकी अपनी ज़मीन पर समझने की ज़हमत उठाना गवारा न कर पाए. आज सेकुलरिज़म पर तीन दशक लंबी बहस के बाद हमारे सिद्धांतकार अब इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि हमें इससे जुड़े मुद्दों को नए सिरे से, अपने अनुभवों की ज़मीन से समझना होगा. ज़रूरत हो तो नए पद गढ़ने होंगे. हमें अपनी भाषायी ज़मीन की ओर लौटना होगा.

यहाँ इन उदाहरणों की चर्चा के ज़रिये हम अपने इस यक़ीन को रेखांकित करना चाहते हैं कि समाज-चिंतन के पद अपनी भाषायी ज़मीन से गहरा ताल्लुक रखते हैं और भाषा महज़ विचारों के इज़हार का ज़रिया नहीं होती बल्कि उनकी बनावट को निर्धारित भी करती है.

इस नज़रिए से हम चाहेंगे कि 27 फरवरी की परिचर्चा में आप अपने तजरुबे से अपनी भाषा में समाज-चिंतन और समाज-विज्ञान (व समाज-विज्ञानेतर लेखन) की चुनौतियों पर अपनी बात रखें. आपका भाषायी दुनिया और उसकी बहसों में हस्तक्षेप का ज्ञान हमारे लिए भी मार्गदर्शन का काम करेगा. इस परिचर्चा के ज़रिये हम यह भी उम्मीद करते हैं कि आने वाले समय में भारतीय भाषाओं में वैचारिक लेन देन की प्रक्रिया और तेज़ और मज़बूत होगी.

बहस की सुविधा के लिए हम सुझाव के तौर पर नीचे चंद विषयों की सूची दे रहे हैं :

- लघु पत्रिकाओं के हवाले से राजनीतिक लेखन
- ग़ैर-अकादमिक समाज-चिंतन
- अध्यापन की चुनौतियाँ
- भारतीय भाषाओं में अकादमीय लेखन की शैली और पद्धति के सवाल

— भारतीय भाषा कार्यक्रम,

विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)